मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन : संत कबीर एवं रविदास का वैचारिक अंतःसम्बन्ध

डॉ. मनोज कुमार कैन

लगभग तीन सौ वर्षों से भी अधिक समय तक भारतीय जीवन को अनुप्राणित करने वाले भक्ति आन्दोलन की चर्चा करते हुए प्रायः सभी विद्वानों ने इसे एक महान ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक घटना के रूप में स्मरण किया है। किसी–किसी विद्वान ने उसे धर्म, समाज, संस्कृति, यहाँ तक कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसके तलस्पर्शी प्रभाव की चर्चा करते हुए उसे एक नया युगान्तर भी माना है। "भक्ति–आन्दोलन के व्यापक जनाधार, विशेषतः कोटि–कोटि दलितों, पीड़ितों और शोषितों के जीवन में आत्म–सम्मानपूर्वक जी सकने की एक नई आशा का संचार करने एवं उनके व्यापक सहयोग और शिरकत के बल पर देश के उत्तर से दक्षिण तथा पूर्व से पश्चिम तक, शताब्दियों की कालावधि में भी अपने सार्थक प्रभाव को कायम रख सकने के नाते उसे मध्यकाल के एक महान जन–आन्दोलन की संज्ञा दी गई है। इसे यूरोप तथा इटली के रेनेसांस के समानान्तर भारतीय जागरण भी कहा गया है। 'लोक जागरण' के नाम से भी अभिहित किया गया है। विभिन्न वर्गों तथा वर्ण–व्यवस्था से जर्जर, सामाजिक ऊँच–नीच की भावना से आक्रांत, नाना प्रकार के धार्मिक भेदभाव, कर्मकाण्ड एवं विधि–निषेधों से परिचालित भारतीय जीवन में भक्ति–आन्दोलन का प्रादुर्भाव और उसके द्वारा उद्घोषित मनुष्य सत्य हमारे लिए उस समय की एक ऐसी अभूतपूर्व घटना एवं अनुभव था, जिसकी कोई मिशाल नहीं है।"

भारत में पहली बार उपेक्षित समाज से संत कवियों का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने सर्वप्रथम स्पष्टता और निडर मन से धर्म, वर्ण, जाति और संप्रदाय की बेड़ियों को तोड़कर सही अर्थों में मानवीयता का पाठ पढ़ाते हुए मानव धर्म की स्थापना की। यह भी सच है कि भक्ति आन्दोलन से सामाजिक जीवन का अभिशाप सदा के लिए दूर नहीं हो सका। व्यवस्था की बुनियाद कुछ झटके खाकर भी पहले जैसी ही बनी रही। संतों की वाणी भी अधिकतर सदिच्छा के धरातल तक ही सीमित रही। भक्ति का आन्दोलन भी सब समय, सब जगह समस्तरीय नहीं रहा। उसमें उतार–चढ़ाव आते रहे। नए–नए विचार तथा नए–नए मत उसकी आकृति को प्रशस्त तथा संकुचित करते रहे। उसकी गति और व्याप्ति भी फैलती–सिकुड़ती रही और अंत में समाज का 'प्रभु' वर्ग उसके सूत्र अपने हाथ में लेने में कामयाब हो गया। के. दामोदरन ने भक्ति–आन्दोलन के बिखरने के अन्य कारणों की तरफ संकेत करते हुए लिखा है कि ''धर्म के लिए प्रेरणा मूलतः संवेदनशील होती है, तर्क करने अथवा युक्ति पूर्वक सोचने का मौका कम मिलता है। अतः धार्मिक भावना न तो सामाजिक समस्याओं के तर्कसंगत विश्लेषण के लिए सक्षम है, न ही इन समस्याओं का युक्तियुक्त समाधान ढूँढ निकालने में वह सफल होती है। भक्ति–आन्दोलन ने आम जनता में तो जागृति पैदा की, किन्तु वह सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था में मौजूद असंगति के वास्तविक कारणों को समझने और मानव के दुखों और पीड़ाओं के नूतन समाधान प्रस्तुत करने में सफल नहीं हुआ। यही एक मुख्य कारण है इस आन्दोलन की परिणति, जिसने सामंती उत्पीड़न और पुरोहिती रूढ़िवाद के विरुद्ध जनता को संयुक्त किया था, अंततः घोर संकीर्णतावाद में हुई। सिक्ख धर्म की विकास प्रक्रिया इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।" आगे और विचार करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''यदि यह आन्दोलन सदा के लिए सामाजिक

असमानताओं और जाति–प्रथा के अन्यायों को खत्म नहीं कर सका, तो सम्भवतः इसका कारण यह था कि कारीगर, व्यापारी और दस्तकार, जो इस आन्दोलन के मुख्य आर्थिक आधार थे, अब भी कमजोर और असंगठित थे।"

मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन मूल रूप से हमारे सामने सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक आंदोलन के रूप में आता है। सच कहें तो इसकी पहचान अधिकांशतः एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में ही होती है। "भक्ति–आन्दोलन का मूल आधार भगवान विष्णु अथवा उनके अवतारों राम और कृष्ण की भक्ति थी। किन्तु यह एक शुद्ध धार्मिक आन्दोलन नहीं था। वैष्णवों का सिद्धान्त मूलतः उस समय व्याप्त सामाजिक, आर्थिक यथार्थ की आदर्शवादी अभिव्यक्ति था। सांस्कृतिक क्षेत्र में उन्होंने राष्ट्रीय नवजागरण का रूप धारण किया है। सामाजिक विषय वस्तु में वे जातिप्रथा के आधिपत्य और अन्यायों के विरुद्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्रोह के द्योतक थे।"

शिवकुमार मिश्र के शब्दों में कहें तो "इस आन्दोलन ने भारत में विभिन्न राष्ट्रीय इकाइयों के उदय के लिए नया बल प्रदान किया। साथ ही राष्ट्रीय भाषाओं और उनके साहित्य की अभिवृद्धि का मार्ग भी प्रशस्त किया। व्यापारी और दस्तकार सामंती अवशोषण का मुकाबला करने के लिए इस आन्दोलन से प्रेरणा प्राप्त करते थे। यह सिद्धांत कि ईश्वर के सामने सभी मनुष्य, फिर वे ऊंची जाति के हो अथवा नीची जाति के, समान हैं, इस आन्दोलन का केन्द्र बिन्दु बन गया। धार्मिक आवरण में भी यह देश के साधारण जन की व्यथा–कथा का आन्दोलन बनकर सामने आया। इसने देश को उत्तर और दक्षिण, पूर्व और पश्चिम सभी ओर स्पन्दित किया। यह सम्पूर्ण राष्ट्र की समग्र अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया। दक्षिण में रामानुजन इसके पुरोधा बने तो उत्तर में इसे उनके शिष्य रामानंद सामने लाए। रामानुजन ने ब्राह्मण और अब्राह्मण सभी को, यहाँ तक कि मुसलमानों को भी, अपनी शिष्य परंपरा में लिया तथा दक्षिण भारत में व्याप्त खान–पान सम्बधी कट्टरता एवं अस्पृश्यता जैसी सामाजिक विकृतियों पर प्रहार किया। यही काम उत्तर भारत में रामानंद ने किया। समूचे उत्तर भारत में भ्रमण करते हुए उन्होंने अपने क्रान्तिकारी सामाजिक विचारों का प्रचार–प्रसार किया। तुलसी को अपनी शिष्य परंपरा में लेते हुए कबीर को भी उसके अन्तर्गत स्वीकार किया। राम–राम का उनका मंत्र सगुण तथा निर्गुण दोनों ही प्रकार की भक्ति का संवाहक बना। निम्न जातियों से तमाम संत इस भक्ति आन्दोलन की लहर में सामने आए, जिनमें जुलाहा कबीर, बुनकर दादू, चमार रैदास, नाई सेना, दरजी नामदेव और कसाई सदना आदि प्रमुख हैं। चाहे पूर्व हो या पश्चिम, उत्तर हो या दक्षिण भक्ति आन्दोलन का मुख्य नेतृत्व नीची कही जाने वाली जातियों के हाथों में ही रहा। इन संतों ने साधारण जनता को वर्ग, धर्म, जाति और समुदाय की संकीर्णता से मुक्त करते हुए परस्पर घुलने–मिलने की प्रेरणा दी और इस प्रकार सामंतवाद की जड़ों पर कड़ा प्रहार किया।"

भक्ति आन्दोलन के जिस दौर में कवि एवं भक्त कबीर और रविदास का आविर्भाव हुआ, वह समय भारतीय सामंती वर्णव्यवस्था और समाज की कुरीतियों एवं बुराइयों से ग्रस्त था। भक्ति के उस संकीर्ण दौर में संत कबीर एवं रविदास जी ने मानवता का संदेश दिया। "भक्ति काव्य की ये सामाजिक– सांस्कृतिक उपलब्धियां इन भक्तों और संतों के अपने समय और समाज से किए गए साक्षात्कार के क्रम में, उनमें इनके द्वारा किए गए हस्तक्षेप के क्रम में और इनके अपने गहरे रचनात्मक आत्मसंघर्षों के क्रम में, सामने आई है।"

भक्ति आंदोलन से निर्गुण भक्ति की जो काव्यधारा निकली कबीर उसके सबसे महत्पूर्ण कवि थे। उनकी प्रकृति में कहीं भी समझौता शब्द नहीं था। स्पष्टवादिता उनके रोम रोम में व्याप्त थी। वास्तव

में वे सिर पर कफन बाँधकर और अपना ही घर फूंककर अलख जगाने निकले थे। वह समझोता परस्त लोगों के खिलाफ थे। वे लुकाठी लिए सरे बाजार में गुहार लगा रहे थे–

"कबीरा खड़ा बाजार में लिए लुकाठी हाथ।

जो घर जारे आपना चले हमारे साथ।।"

मानव समता तथा मानव धर्म का जो सपना उन्होंने देखा था और जिसे अपनी विरासत के रूप में उन्होंने युग को दिया।" कबीर की चर्चा करते हुए प्रायः उन्हें विद्रोही कवि, क्रांतिकारी दृष्टा, समाज सुधारक, मनीषी, रहस्यवादी साधक और संत इस प्रकार के नाना रूपों में स्मरण किया जाता है।

संत रविदास जी मध्यकालीन धर्म साधना में एक ऐसे संत के रूप में आते हैं, जिन्होंने अपनी सामाजिक उपस्थिति से अपने जीवन काल में ही लोक नायक का दर्जा हासिल कर लिया था। उन्होंने 'पोथी संस्कृति' के बरक्स मानव संस्कृति की बात की है, जिसका सीधा असर मानव समाज पर पड़ा है। उन्होंने हिंदु संस्कृति की रूढ़ियों, कर्मकांडों का विनम्रतापूर्वक प्रतिवाद करते हुए अपना पक्ष रखा, जिससे आधुनिक समाज में ये सामाजिक जागरूकता और चरित्र बल के प्रतीक बन गए। "साधना इनके स्वभाव में थी और 'स्वाभिमान' इनके संस्कार में था। इस कारण से उन्होंने अपने पदों व साखियों में काम करने वाले मजदूरों को पर्याप्त प्रतिष्ठा दी। रविदास जी ने अपने पदों में जहां 'प्रिय संस्कृति' की आलोचना कही है, वहीं अपनी सखियों में, सामाजिक प्रतिष्ठा में, श्रम व कर्म के महत्त्व को रेखांकित किया है।"

भक्तिकाल की विभिन्न काव्य धाराओं के अंतर्गत संत साहित्य का स्थान आता है। संत साहित्य सिद्ध–नाथों की विद्रोही चेतना से जुड़ाव रखते हुए सूफियों जैसी रागात्मकता भी रखता है। संत मत की इसी परम्परा में भक्तिकाल के दो प्रमुख संत हुए जिनमें संत कवि कबीरदास एवं संत कवि रविदास जी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। संतों के विषय में कबीरदास जी ने अपनी एक साखी में कहा है–

"निरबैरी निहकामता, साँई सेंती नेह।

विषिया सूं न्यारा रहे संतनि को अंग एह॥"

(कबीर ग्रन्थावली)

अर्थात 'संतों का लक्षण उनका निर्वैरी, निष्काम प्रभु का प्रेमी और विषयों से विरक्त होना है'।

इसी प्रकार तुलसीदास ने भी श्री राम द्वारा संतों की महिमा का गुणगान करवाते हुए लिखते हैं कि–

"सबकै ममता ताग बतोरी।

मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥

समदर्शी इच्छा कछु नाहीं"

(रामचरितमानस)

"सभी सांसारिक बन्धनों के प्रति प्रदर्शित ममता के धागों के बटोर लेने, उन्हें सुदृढ़ रस्सी में बाँधकर उसे प्रभु के चरणों में बाँध देने, समदर्शी बने रहने तथा किसी भी प्रकार की कामना न रखने को ही संतों के प्रधान लक्षण ठहराए हैं।"

संत मत की इसी परम्परा में भक्तिकाल के दो प्रमुख संत हुए जिनमें कबीर एवं रविदास का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भक्तिकाल के सभी संतों की तरह यह भी निम्न वर्ग से आए थे। कबीर जिस समय भारतीय समाज में पैदा हुए थे वह बहुत उथल–पुथल का समय था। उसमें संस्कृति, धर्म और विचार की अनेक तेज धाराएँ परस्पर टकराती हुई चल रही थी। एक ओर हिन्दू समाज की भेद–भाव पर आधारित जाति व्यवस्था की रचना थी, उस संरचना की शक्ति का स्रोत शास्त्रीय धर्म था, उस संरचना और धर्म के विरुद्ध विद्रोह करते हुए आगे आए बौद्ध, जैन, सिद्ध एवं नाथ आदि धर्म तथा मत थे, तो दूसरी ओर उग्र

इस्लाम था, जिसमें कट्टरता थी और धार्मिक स्तर पर समानता के बावजूद सामाजिक विषमता थी। इसके बरबस प्रेम की पीर का संदेश देने वाले सूफी संत थे। हिंदू जनता जिस तरह से जाति व्यवस्था के भेद भाव और धार्मिक कर्मकाण्ड की चक्की में पिस रही थी, उसी तरह मुस्लिम जनता इस्लाम की कट्टरता और कर्मकाण्ड की चक्की में पिस रही थी। इन दोनों के ऊपर राजसत्ता के शोषण का चक्र चल रहा था। ऐसे कालचक्र की चक्की में पिसी हुई जनता को देखकर कबीर ने कहा है–

"चलती चक्की देखकर, दिया कबीरा रोय।

दो पाटन के बीच में, साबुत बचा न कोय।।"

कबीर और रविदास के सम्पूर्ण चिंतन का एक ही सार व उद्देश्य है– समतामूलक समाज। कबीर अपने पदों में एक ऐसे अमरलोक की रचना करते हैं जहाँ किसी भी प्रकार का ऊँच–नीच और भेद–भाव नहीं हो, जहाँ मनुष्यता ही सर्वस्व हो–

"जहवाँ से आयो अमर वह देसवा।

पानी न पान धरती अकसवा, चाँद न सूर न रैन दिवसवा।

बाम्हन छत्री न सूद्र बैसवा, मुगल पठान न सैयद सेखवा।।

आदि जोत, नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्म बिसनु महेस न सेसवा।

जोगी न जंगम मुनि दुरबेसवा आदि न अंन न काल कलेसवा।

दास कबीर के आए संदेसवा, सार सबद गहि चलौ वहि देसवा।।"

"कबीर की कविता सपना देखती है, ऐसे अमरलोक का, जिसमें मनुष्य की मनुष्यता ही महत्वपूर्ण है। कबीर के देखे सपने में न ब्राह्मण हैं, न क्षत्रिय। न सैयद हैं, न शेख। न शूद्र हैं, न वैश्य । कबीर का सपना न तो सिर्फ सामाजिक शमुक्तिश तक सीमित है, न सिर्फ आध्यात्मिक मुक्ति तक। उनके सपने में ये दोनों मुक्तियाँ एक–दूसरे का विरोध नहीं, पोषण करती हैं।"

कबीर के अमरलोक की रैदास भी बेगमपुरा का सपना देखते हैं, जहाँ प्रत्येक मनुष्य समान, संपन्न और प्रसन्न रहे–

"ऐसा चाहूँ राज मैं जहाँ मिले सबन को अन्न।

छोट बड़ो सब सम बसै रैदास रहे प्रसन्न।।"

कबीर और रविदास के चिंतन का आधार शास्त्रीय ज्ञान न होकर उनके स्वयं का समाज सापेक्ष अनुभव था। वे दोनों ही अपने पदों में शास्त्रीय ज्ञान का खंडन करते हैं और आँखों देखा ज्ञान की अभिव्यक्ति करते हैं।

कबीर और रविदास ने ज्ञान, भक्ति और सत्कर्म के समन्वय द्वारा तत्कालीन सामाजिक बुराइयों और कर्मकाण्डों को दूर करने का मन्त्र दिया। उनके अनुसार इन सामाजिक बुराइयों और कर्मकाण्डों को दूर करके ही सच्ची मनुष्यता का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है। उन्होंने मूर्तिपूजा के बरक्स मानवीय मूल्यों की वकालत की है। शास्त्रों के बरक्स लोक की वकालत की। शास्त्रीयता के स्थान पर लोकधर्म की वकालत की। मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में कहें तो "कबीर के लोकधर्म में व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्कर्ष से अधिक महत्वपूर्ण है समाज में मनुष्यत्व का जागरण। भक्ति दर्शन के अनुसार भक्ति के क्षेत्र में अमीर–गरीब, स्त्री–पुरुष, ब्राह्मण–शुद्र आदि का भेद नहीं होता। कबीर इस आध्यात्मिक सत्य को सामाजिक सत्य बनाते हैं और एक समतामूलक समाज के निर्माण की माँग करते हैं।"

कबीर और रविदास सदियों से चली आ रही जाति व्यवस्था पर कड़ा प्रहार करते हैं। सामाजिक विषमता का मुख्य आधार वे जाति व्यवस्था को ही मानते हैं। अतः उन्होंने जाति व्यस्था की बुराईयों को पहचाना और उसे दूर करने का आह्वान भी किया। कबीर के अनुसार–

"जाति पांति पूछे नहिं कोई, हरि को भजे सो हरि को होय"

उन्होंने स्पष्ट रूप से यह भी कहा कि कोई भी व्यक्ति जाति से नहीं बल्कि कर्म से बड़ा होता है। अतः उन्होंने अपने पदों में कर्म को महत्व दिया। रविदास के अनुसार–

"जन्म जात कूँ छांडि करि, करनी जात परधान।

इह्यौ बेद को धरम है, करै रविदास बखान।।"

इस प्रकार उन्होंने अपनी रचनाओं में जातिगत ऊँच–नीच के स्थान कर्म की प्रधानता और महत्ता को स्वीकार कर मानवीयधर्म की स्थापना की है। जैसा कि आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है "अन्य संतों की तुलना में महात्मा रविदास ने अधिक स्पष्ट और जोरदार भाषा में कहा है कि 'कर्म ही धर्म' है। उनकी वाणियों से स्पष्ट होता है कि भगवद्भजन, सदाचारमय जीवन, निरअहंकार वृति और सबकी भलाई के लिए किया जाने वाला कर्म, ये ही वास्तविक धर्म है।"

कबीर और रविदास के अभिव्यक्ति शैली में पर्याप्त अंतर था। कबीर की वाणी कटु थी तो रविदास की वाणी में संयम था। कबीर जब सामाजिक रुढियों और अन्धविश्वासों पर विचार करते हैं तो उनकी वाणी पाखंडियों को अंदर तक तिलमिला देती है। वे उनका खुलेआम मखौल उड़ाते हैं–

"अरे इन दोउ राह न पाई

हिन्दुवन की हिन्दुवाई देखी, तुरकन की तुरकाई।।"

जबकि रविदास की वाणी में विनम्रता है। मधुरता है –

"प्रभ जी! तुम मोती हम धागा, जैसे सोनहि मिलत सुहागा

प्रभुजी! तुम वामी हम दासा, ऐसी भक्ति करे रैदासा।"

कबीर और रविदास ने सत्गुरु की महत्ता को स्वीकार किया है। गुरु–कृपा से ही मनुष्य परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है। क्योंकि गुरु ही मनुष्यों को सत्संग और सत् आचरण की शिक्षा प्रदान करता है। कबीर के अनुसार तो गुरु गोविन्द से पहले है, क्योंकि गोविंद की प्राप्ति का रास्ता गुरु ही दिखाता है–

"गुरु गोविन्द दोउ खड़े काके लागू पाय।

बलिहारी गुरू के जाक गोविन्द दिया मिलाय।।"

रविदास ने अपनी रचनाओं में इस बात पर बहुत बल दिया है कि भगवान के प्रति सच्चा प्रेम साधु संगति के बिना उत्पन्न नही हो सकता–

"साधु संगति बिनु भाव नहीं उपजै। भाव बिनु भगति होई न तेरि।।"

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि सम्पूर्ण मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन हमारे सामने एक सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आंदोलन के रूप में आता है, जिसमें वर्ण, वर्ग, सम्प्रदाय तथा धर्मगत बंधनों की अवहेलना करते हुए मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और ईश्वरोपासना से संबंधित कविताएँ रची गई हैं। हम यह भी देखते हैं कि तत्कालीन समाज में सामंती वर्णव्यवस्था और सामाजिक बुराइयों का बोलबाला था। ऐसे दौर में कबीर और रविदास ने अपनी वाणी से समाज को मानवता का पाठ पढ़ाया। संत कबीर ने जहाँ एक तरफ अपनी वाणी की अभिव्यक्ति के लिए क्रांतिकारी तेवर को अपनाया तो वहीं दूसरी तरफ संत रविदास ने सहजता एवं विनम्रता को।

संदर्भ सूची

1. भक्ति आन्दोलन और भक्ति–काव्य– शिवकुमार मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहबाद, पृ. संख्या– 27
2. वही, पृष्ठ संख्या– 28

3. वही, पृष्ठ संख्या– 28
4. वही, पृ. संख्या– 20
5. वही, पृ. संख्या– 20–21
6. वही, पृष्ठ संख्या– 289
7. वही, पृ. 77
8. संत रविदास रचनावली, सं. ममता झा, प्रभात पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ. संख्या–15
9. उत्तरी भारत की संत परंपरा, सं. परशुराम चतुर्वेदी, लोकभारती पेपरबैक्स, पृ. संख्या–15 (भूमिका से)
10. अकथ कहानी प्रेम की– पुरुषोत्तम अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 42
11. अनभै साँचा– मैनेजर पाण्डेय, पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या– 14
12. दलित मुक्ति की विरासत : संत रविदास– डॉ. सुभाष चन्द्र, आधार प्रकाशन, हरियाणा, पृष्ठ संख्या– 42